AYU-VOL. 30, NO. 4 (OCTOBER-DECEMBER) 2009, pp. 508-515

जल्पकल्पतरु टीका के दार्शनिक प्रस्थानों का समन्वयात्मक अध्ययन (प्रपत्र भाग-२)

ओ. पी. उपाध्याय * ऋतु सोनी **

राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर, राजस्थान.

सारांश : चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता आयुर्वेद के आकर ग्रन्थ हैं। संस्कृत भाषा के ज्ञान के बिना इनका अध्ययन कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है। अत एव टीकाकारों ने इन ग्रन्थों पर टीकायें लिख कर हम सभी को उपकृत किया है। चरक संहिता सभी शास्त्रों की पारिषद्य रूप होने से सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसका काल दो प्रकार से माना गया है। जो विद्वान् पतञ्जलि को अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कर्ता मानते हैं, उनके मत से इस तन्त्र का प्रतिसंस्कार २१०० वर्ष पूर्व हुआ था, और जो विद्वान् कनिष्क के राजवैद्य चरक को अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कर्ता मानते है, उनके मत से १८५० वर्ष पूर्व अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कार हुआ था, जो वर्तमान में चरक संहिता के नाम से ख्यात है। चरक संहिता पर चक्रपाणिदत्त कृत संस्कृत व्याख्या 'आयुर्वेद दीपिका' प्रसिद्ध है । चक्रपाणि का काल लगभग १०७५ ई॰ माना जाता है । इस प्रकार प्रतिसंस्कर्ता चरक एवं चक्रपाणि के काल में लगभग १००० वर्षों का अन्तराल है। इसके पश्चात् १२वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक चरक संहिता पर कोई प्रामाणिक संस्कृत टीका नहीं प्राप्त होती है। पुनः १९वीं शताब्दी में कविराज गंगाधर रॉय की विद्वत्तापूर्ण टीका 'जल्पकल्पतरु' प्राप्त होती है। इस टीका में विशेषतः दार्शनिक विषयों पर गंभीर मीमांसा की गयी है। कविराज गंगाधर रॉय चरक संहिता के वर्तमान में अन्तिम संस्कृत टीकाकार हैं। आचार्य चक्रपाणि एवं कविराज गंगाधर रॉय के मध्य लगभग ८०० वर्षों का अन्तराल है। भाषा विज्ञान सम्मत कालकृत परिवर्तन के अनुसार एक हजार वर्षों में उस भाषा का लगभग चतुर्थांश भाग परिवर्तित हो जाता है। इस दृष्टि से आयुर्वेदीय संहिताएं वेदों के अंश हैं, अतः शब्दानुक्रमिक अन्तर सम्भव नहीं है, किन्तु कालिक क्रम से शब्दार्थक प्रयोग में वैभिद्य सुनिश्चित है । अतः आर्ष ग्रन्थों को भी युगानुरूप सन्दर्भों में देखने की आवश्यकता है। वस्तुतः यह विचारणीय विषय है, कि जब 'आयुर्वेद दीपिका' के रूप में 'चरक संहिता' पर सर्वाधिक विशिष्ट एवं विद्वत्तापूर्ण टीका १०वीं शती में उपलब्ध थी, उसके पश्चात् १९वीं शती में आचार्य गंगाधर रॉय ने 'जल्पकल्पतरु' टीका लिखी, तो आचार्य गंगाधर रॉय की टीका निश्चित ही युगानुरूपिणी, परिमार्जित एवं वैशिष्ट्य युक्त है। इसी विषय को विविध प्रमाणों द्वारा सिद्ध करते हुए लेखक ने समस्त आयुर्वेद जगत् के समक्ष प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया है। यह सत्य है कि चक्रपाणिदत्त कृत 'आयुर्वेद दीपिका' टीका अति गंभीर, सुप्रसिद्ध, पाणिनि, कणाद आदि शास्त्रों के सिद्धान्तों के अनुरूप तथा चिकित्सा सिद्धान्तों का अनुवर्तन करने वाली है, तथापि १९वीं शताब्दी में लिखी गयी कविराज गंगाधर रॉय की विद्वत्तापूर्ण टीका 'जल्पकल्पतरु' में विशेषतः दार्शनिक विषयों की जिस प्रकार गंभीर मीमांसा की गयी है, वह किसी अन्य टीका में प्राप्त नहीं है। वर्तमान में चक्रपाणि कृत आयुर्वेद दीपिका टीका ही सर्वमान्य टीका के रूप में प्रचलित है, किन्तु 'पुराणमित्येव न साधु सर्वत्र न चापि काव्यं नवमित्यवन्द्यम्' इस सिद्धान्त से नवीन भी प्रशस्त एवं परमोपयोगी हो सकता है । इस क्रम में 'जल्पकल्पतरु' के वैशिष्ट्य को आज के अध्येतृ वर्ग में प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत प्रपत्र में सामान्य-विशेष वाद के सन्दर्भ में आचार्य चक्रपाणि के मन्तव्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हुए आचार्य गंगाधर रॉय के मन्तव्य का आचार्य चक्रपाणि से समन्वयात्मक अध्ययन तथा आचार्य गंगाधर के वैशिष्ट्य का विवेचन किया गया है।

परिचय-

चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता आयुर्वेद के आकर ग्रन्थ हैं। संस्कृत भाषा के ज्ञान के बिना इनका अध्ययन कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है। अत एव टीकाकारों ने इन ग्रन्थों पर टीकायें लिख कर हम सभी को उपकृत किया है।

चरक संहिता सभी शास्त्रों की पारिषद्य रूप होने से सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसका काल दो प्रकार से माना गया है। जो विद्वान् पतञ्जलि को अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कर्ता मानते हैं, उनके मत से इस तन्त्र का प्रतिसंस्कार २१०० वर्ष पूर्व हुआ था, और जो विद्वान् कनिष्क के राजवैद्य चरक को अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कर्ता मानते है, उनके मत से १८५० वर्ष पूर्व अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कार हुआ था, जो वर्तमान में चरक संहिता के नाम से ख्यात है।

इस संहिता में जिस प्रकार न्याय, वैशेषिकादि षट् आस्तिक दर्शनों के प्रस्थानों का समावेश है, उसी प्रकार नास्तिक विचारधाराओं का भी बह्वत्र पूर्वपक्ष के रूप में सन्निवेश हुआ है।

चरक संहिता पर चक्रपाणिदत्त कृत संस्कृत व्याख्या 'आयुर्वेद दीपिका' प्रसिद्ध है । चक्रपाणि का काल लगभग १०७५ ई॰ माना जाता है । इस प्रकार प्रतिसंस्कर्ता चरक एवं चक्रपाणि के काल में लगभग १००० वर्षों का अन्तराल है । इसके पश्चात् १२वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक चरक संहिता पर कोई प्रामाणिक संस्कृत टीका नहीं प्राप्त होती है। पुनः १९वीं शताब्दी में कविराज गंगाधर रॉय की विद्वत्तापूर्ण टीका 'जल्पकल्पतरु' प्राप्त होती है । इस टीका में विशेषतः दार्शनिक विषयों पर गंभीर मीमांसा की गयी है। कविराज गंगाधर रॉय चरक संहिता के वर्तमान में अन्तिम संस्कृत टीकाकार हैं ।

* विभागाध्यक्ष, मौलिक सिद्धांत एवं संहिता।

** पीएच. डी. शोधछात्रा, मौलिक सिद्धांत एवं संहिता विभाग।
Email : drritusoni@yahoo.com

आचार्य चक्रपाणि एवं कविराज गंगाधर रॉय के मध्य लगभग ८०० वर्षों का अन्तराल है।

भाषा विज्ञान सम्मत कालकृत परिवर्तन के अनुसार एक हजार वर्षो में उस भाषा का लगभग चतुर्थांश भाग परिवर्तित हो जाता है। इस दृष्टि से आयुर्वेदीय संहिताएं वेदों के अंश हैं, अतः शब्दानुक्रमिक अन्तर सम्भव नहीं है, किन्तु कालिक क्रम से शब्दार्थक प्रयोग में वैभिद्य सुनिश्चित है। अतः आर्ष ग्रन्थों को भी युगानुरूप सन्दर्भो में देखने की आवश्यकता है।

इस प्रकार वैज्ञानिक सन्दर्भ में इतने लम्बे अन्तराल में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। यहां लेखक का यह मन्तव्य नहीं है, कि वेद (आयुर्वेद) के अपौरुषेयत्व पर सन्देह किया जाये, अपितु मानव की अल्पायुष्य एवं क्रमशः ह्रास को प्राप्त हुई बुद्धि विशदता को अंगीकार कर तदनुरूप शास्त्र का परिवर्धन एवं अनुवर्तन अपेक्षित है।

उपर्युक्त विवेचनानुसार चरक संहिता के काल से चक्रपाणि के काल तक, एवं चक्रपाणि के काल से कविराज गंगाधर रॉय के काल तक आते-आते दार्शनिक तत्त्वों के रूप में युगानुरूप जो परिवर्तन या विशेषताएं उपस्थित हुईं अथवा स्थानान्तरित हुईं, उनके अन्वेषण हेतु तथा पूर्वकालीन संहिताओं के दार्शनिक तत्त्वों से समन्वय एवं वैशिष्ट्य अन्वेषित करने हेतु प्रस्तुत विषय पर लेखक ने दार्शनिक प्रस्थानों की चिकित्सा के क्षेत्र में उपादेयता सिद्ध करते हुए प्रतिसंस्कर्ता की प्राथमिक भूमिका के रूप में तथ्यों का संकलन करने का प्रयास किया है।

पूर्व में विवेचित प्रपत्र में सामान्य-विशेष वाद के सन्दर्भ में आचार्य गंगाधर राय के मन्तव्य की विस्तार से विवेचना की गई थी। प्रस्तुत प्रपत्र में सामान्य-विशेष वाद के सन्दर्भ में आचार्य चक्रपाणि के मन्तव्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हुए आचार्य गंगाधर राय के मन्तव्य का आचार्य चक्रपाणि से समन्वयात्मक अध्ययन तथा आचार्य गंगाधर के वैशिष्ट्य का विवेचन किया गया है।

उद्देश्य-

चक्रपाणिदत्त कृत 'आयुर्वेद दीपिका' टीका अति गंभीर, सुप्रसिद्ध, पाणिनि, कणाद आदि शास्त्रों के सिद्धान्तों के अनुरूप तथा चिकित्सा सिद्धान्तों का अनुवर्तन करने वाली है, तथापि दार्शनिक प्रस्थानों के विवेचन में किंचित् अवर है संभवतः ऐसा स्वीकार करते हुए १९वीं शताब्दी में कविराज गंगाधर रॉय ने अपनी विद्वत्तापूर्ण टीका 'जल्पकल्पतरु' में विशेषतः दार्शनिक विषयों की गंभीर मीमांसा की है।

वर्तमान में चक्रपाणि कृत आयुर्वेद दीपिका टीका ही सर्वमान्य टीका के रूप में प्रचलित है, किन्तु 'पुराणमित्येव न साधु सर्वत्र न चापि काव्यं नवमित्यवन्द्यम्' इस सिद्धान्त से नवीन भी प्रशस्त एवं परमोपयोगी हो सकता है । इस क्रम में 'जल्पकल्पतरु' के वैशिष्ट्य को आज के अध्येतृ वर्ग में प्रतिष्ठापित करने का लेखक ने प्रयास किया है।

वस्तुतः यह विचारणीय विषय है, कि जब 'आयुर्वेद दीपिका' के रूप में 'चरक संहिता' पर सर्वाधिक विशिष्ट एवं विद्वत्तापूर्ण टीका १0वीं शती में उपलब्ध थी, उसके पश्चात् १९वीं शती में आचार्य गंगाधर रॉय ने 'जल्पकल्पतरु' टीका लिखी, तो आचार्य गंगाधर रॉय की टीका निश्चित ही युगानुरूपिणी, परिमार्जित एवं वैशिष्ट्य युक्त है। इसी विषय को विविध प्रमाणों द्वारा सिद्ध करते हुए लेखक ने समस्त आयुर्वेद जगत् के समक्ष प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया है।

पूर्व में विवेचित प्रपत्र में सामान्य-विशेष वाद के सन्दर्भ में आचार्य गंगाधर राय के मन्तव्य की विस्तार से विवेचना की गई थी। प्रस्तुत प्रपत्र का उद्देश्य सामान्य-विशेष वाद के सन्दर्भ में आचार्य चक्रपाणि के मन्तव्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हुए आचार्य गंगाधर राय के मन्तव्य का आचार्य चक्रपाणि से समन्वयात्मक अध्ययन तथा आचार्य गंगाधर के वैशिष्ट्य का विवेचन करना है।

'सामान्य-विशेष वाद'-आचार्य चक्रपाणि के अनुसार-

सर्वदा सर्व भावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।
ह्रास**हेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ।।**[1]

उपर्युक्त श्लोक में आचार्य चक्रपाणि 'सर्वदा' शब्द से 'नित्यग' एवं 'आवस्थिक' सभी कालों का ग्रहण करते हैं। सामान्य, वृद्धि का कारण होता है। 'वृद्धि' का अर्थ है, 'आधिक्य'। आचार्य चक्रपाणि 'वृद्धि कारणम्' को सामान्य का एक लक्षण बताते हुए कहते हैं, कि 'सामान्य केवल जातिगत सामान्य को ही नहीं कहते, सामान्य का लक्षण 'वृद्धि का होना' है। व्यवहार में भी हम देखते हैं, कि भोजन योग्य मांस और शरीर के मांस में मांसत्व सामान्य है, परन्तु वह वृद्धि का कारण ग्रहण करने पर ही हो सकता है, जो मांस नही खाते उन व्यक्तियों में भोजन योग्य मांस शारीरिक मांस की वृद्धि का कारण नहीं हो सकता। इस प्रकार 'वृद्धि कारणम्' यह सामान्य का लक्षण है। वास्तव में यह सामान्य की परिभाषा मात्र न होकर आयुर्वेद में सामान्य का प्रयोग दर्शाने वाला लक्षण है। सामान्य की परिभाषा 'सामान्यमेकत्वकरम्' से आगे कही गयी है।

आचार्य चक्रपाणि के अनुसार सामान्य, 'वृद्धि' का कारण होता है परन्तु सामान्य ही 'वृद्धि' का कारण होता है ऐसा नहीं है, क्योंकि 'वृद्धि', 'असमान' से भी हो सकती है जैसे घृत से अग्नि और मेधा की वृद्धि।[2] आचार्य यह भी स्पष्ट करते है, कि सामान्य से वृद्धि तभी संभव है, जब किसी भी प्रकार का विरोधी कारण उपस्थित न हो।[3] उदाहरण स्वरूप, आमलक अम्ल रस युक्त होते हुए भी पित्त के समान गुण (अम्ल) की वृद्धि नहीं करता, क्योंकि आमलक में उपस्थित शीत वीर्य रूप विरोधी कारण, उक्त सामान्य से वृद्धि का विरोध करता है।

विशेष का वर्णन करते हुए आचार्य चक्रपाणि कहते हैं, कि वैशेषिक दर्शन में वर्णित 'अन्त्य विशेष' का चिकित्सा शास्त्र में प्रयोजन न होने के कारण आयुर्वेद में उसी विशेष का वर्णन किया गया है, जिसमें व्यावर्तक धर्म (भेद बुद्धि या ह्रास कारणत्व) उपस्थित हो तथा जो एक स्थान पर सामान्य होने पर भी अन्यत्र विशेष हो जाता हो। इस विशेष को आचार्य चक्रपाणि ने 'सामान्य रूप विशेष' की संज्ञा दी है। 'विशेष' का शाब्दिक अर्थ है, 'जो विशिष्ट हो, व्यावर्तक हो' उसे विशेष कहते हैं, जैसे गवेधुक, अन्य गवेधुक के प्रति सामान्य होता है, परन्तु मांस के प्रति विशेष होता है। इसी तरह मांस, मांस के प्रति सामान्य है, परन्तु शोणित के प्रति विशेष है। विशेष के द्वारा ह्रास भी विरोधी कारण के उपस्थित न रहने पर होता है, जैसे मंदक, निकुच आदि

द्रव्यों के स्निग्धत्वादि गुण वात के विरुद्ध होते हुए भी वात का शमन नहीं करते, क्योंकि ये द्रव्य प्रभावतः अपथ्य है।

आचार्य चक्रपाणि ने दो प्रकार के विशेष का वर्णन किया है;

१- विरुद्ध विशेष, २- अविरुद्ध विशेष

चरक ने जिस विशेष का वर्णन 'ह्रास हेतु' के रूप में किया है, उससे 'विरुद्ध विशेष' अभिप्रेत है, क्योंकि शरीरस्थ जिन दोषों का ह्रास करना है, ह्रास के लिये प्रयुक्त द्रव्यों में उन दोषों के 'विरोधी विशेष' का उपस्थित होना आवश्यक है। आचार्य चरक ने ह्रास के हेतु के रूप में 'विरुद्ध विशेष' का वर्णन कई स्थानों पर किया है, जैसे च. सू. १/६२, च. सू. १/५९ इत्यादि।

'अविरुद्ध विशेष' को स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि कहते हैं, कि अविरुद्ध विशेष यद्यपि न तो 'वृद्धि' का कारण है और न ही 'ह्रास' का, जैसे पृथ्वी का अनुष्णशीतस्पर्श वात के शैत्य को बढ़ाता भी नहीं है और ह्रास भी नही करता, तथापि शरीरस्थ धातुओं के अपनी-अपनी अग्नियों से प्रतिक्षण क्षीण होते रहने तथा असमान द्रव्यों के उपयोग से, जो उन धातुओं का जनक भी नहीं होता, धातुओं का ह्रास हो जाता है। इस प्रकार अविरुद्ध विशेष, ह्रास अथवा वृद्धि में कारण न होते हुए भी अन्ततः ह्रास का कारण ही होता है। असमान द्रव्य का उपयोग होने पर विनश्वर भावों में आपूरक हेतु के अभाव के कारण उनका ह्रास ही होता है। उदाहरणार्थ, बहते हुए जल को पूर्व देश में सेतु से अवरुद्ध कर देने पर उत्तर देश में जल का ह्रास हो जाता है। इस प्रकार अविरुद्ध विशेष के उपयोग से भी ह्रास को देखते हुए आचार्यों ने यहां सामान्य रूप से 'ह्रासहेतुर्विशेष' इस लक्षण को कहा है।

'प्रवृत्ति' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि कहते हैं, कि 'प्रवृत्ति का अर्थ है, 'प्रवर्तन' जो कि शरीर से सम्बन्ध होने पर होता है।'[४] सामान्य और विशेष दोनों का कार्य शरीर से सम्बन्ध होने पर ही स्पष्ट होता है, अन्यथा ये अप्रभावी रहते हैं, अर्थात् शरीर से सम्बन्ध होने पर धातुओं की सामान्य से वृद्धि और विशेष से ह्रास होता है। 'तु' शब्द निश्चय बोधक है, अर्थात् शरीर से असम्बद्ध रहने पर सामान्य-विशेष निश्चित ही अपना कार्य नहीं कर सकते।

'उभयस्य' शब्द का प्रयोग सामान्य और विशेष दोनों के लिये किया गया है। केवल समान के उपयोग से धातुओं में वृद्धि मात्र होने पर धातु-वैषम्य उत्पन्न हो जायेगा, इसी प्रकार केवल विशेष के उपयोग से धातु क्षय होने पर धातु-वैषम्य उत्पन्न हो जायेगा, अतः सामान्य और विशेष के एक साथ उपयोग से धातु साम्य की प्राप्ति होती है।

'सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्' को आचार्य चक्रपाणि सामान्य और विशेष की परिभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं। आचार्य चक्रपाणि के मत से सामान्य वह है, जो एकत्व बुद्धि को उत्पन्न करे।[५] उदाहरणार्थ, वह हेतु जो भिन्न-भिन्न देश और काल में अनेक गायों में एकत्व बुद्धि उत्पन्न करता है, उसे सामान्य कहते हैं। इसी प्रकार क्रिया और गुण में भी एकाकार बुद्धि को उत्पन्न करने वाले हेतु को सामान्य कहते हैं।

आचार्य चक्रपाणि कि अनुसार 'विशेष' वह है, जो व्यावृत्त बुद्धि को उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ 'गोत्व सामान्य' जो अनेक गायों में एकत्व बुद्धि को उत्पन्न करने का हेतु है, वही 'गोत्व' अश्वादि के सापेक्ष व्यावृत्त बुद्धि उत्पन्न करने के कारण अश्वादि के सापेक्ष 'विशेष' है। इसी प्रकार 'मांसत्व सामान्य' के कारण मांस, मांस की वृद्धि करता है, परन्तु यह वात से विशेष होने के कारण वात का क्षय करता है, तथापि मांस, शोणित से अविरुद्ध विशेष होने के कारण शोणित का उतना ह्रास नहीं करता, बल्कि गुण सामान्य के कारण शोणित की वृद्धि ही करता है।

'तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्' का स्पष्टीकरण करते हुए चक्रपाणि कहते हैं, कि अनेक वृत्तियों में सामान्य, एक और अव्यभिचारिणी बुद्धि किस प्रकार उत्पन्न करता है? - 'तुल्यार्थता के द्वारा'। तुल्यार्थता का अर्थ है, एक समान रूप-गुण को प्रकट करना[६] और अतुल्यार्थता को ही विशेष कहते हैं। उदाहरणार्थ, गौ और गज में गोत्व एवं गजत्व जाति अतुल्य होने से वे रूप व गुण में भिन्न होते हैं और पृथक बुद्धि उत्पन्न करते हैं। आचार्य गंगाधर इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि 'तुल्यार्थ' में आये हुए 'अर्थ' शब्द से कारणभूत तथा कार्यभूत वस्तु के गुणधर्म का ग्रहण किया जाता है और जिसमें ये गुणधर्म समान होते हैं, उसे 'तुल्यार्थ' कहते हैं। इस प्रकार जो जिसके समान होता है, वह उसके साथ तुल्यार्थ होने से 'सामान्य' होता है।[७]

आचार्य गंगाधर ने चार प्रकार के सामान्य को उदाहरण देकर समझाया है। उनके मतानुसार सभी पुरुषों में पुरुष घटक वस्तु (सत्त्व, आत्मा और शरीर) समान रूप से रहती है, अतः यह 'द्रव्यभूत सामान्य' है, जो कृष्णवर्ण आदि गुण सभी में परिलक्षित होते हैं, वह 'गुणभूत सामान्य' है, जो गमनादि कर्म सभी में परिलक्षित होते हैं, वह 'कर्मभूत सामान्य' है तथा जो समवायात्मिका सत्ता निश्चित ही समान प्रसवात्मिका होती है वह 'समवायभूत सामान्य' है।[८] इस तरह सामान्य के चार भेद होते हैं तथा ये चारों सत्, नित्य, अद्रव्यवत् कार्यकारण रूप होते हैं।

सामान्य और विशेष के भेद बताते हुए आचार्य चक्रपाणि भी कहते हैं, कि कुछ दूसरे विद्वान् सामान्य और विशेष को तीन प्रकार का वर्णित करते हैं।

१ द्रव्यगोचर
२ गुणगोचर
३ कर्मगोचर

यहां 'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणं' के द्वारा 'द्रव्यगोचर सामान्य', 'सामान्यमेकत्वकरं' के द्वारा 'गुणगोचर सामान्य' तथा 'तुल्यार्थता हि सामान्यं' के द्वारा 'कर्मगोचर सामान्य' का निरूपण किया गया है। जैसे, मांस से मांस की वृद्धि होना 'द्रव्य सामान्य' का लक्षण है; दूध और शुक्र भिन्न जाति के होने पर भी मधुरत्वादि गुण सामान्य से एकत्व होकर दूध से शुक्र की वृद्धि 'गुण सामान्य' का उदाहरण है; 'आस्या' (आसन पर स्वप्न सुखपूर्वक अधिक सोना) से कफ की वृद्धि होती है, अतः पानीयादि द्रव्यों के समान 'अर्थ क्रियाकारित्व' होने से यह 'कर्म सामान्य' का उदाहरण है।

आचार्य चक्रपाणि इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं, कि 'आचार्य भट्टार हरिश्चन्द्र इस मत का विरोध करते हैं, क्योंकि 'सर्वदा'

आदि के द्वारा जो लक्षण किया गया है, उससे त्रिविध (द्रव्य सामान्य, गुण सामान्य और कर्म सामान्य) सामान्य की प्राप्ति हो जाती है, फिर इस पक्ष में 'सामान्यमेकत्वकरं' के कथन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।'

अन्य विद्वानों के मत का उल्लेख करते हुए चक्रपाणि कहते हैं, कि अन्य विद्वानों ने ३ प्रकार के सामान्य बताये हैं।

१ अत्यन्त सामान्य

२ मध्य सामान्य

३ एकदेश सामान्य

'सर्वदा' इत्यादि से अत्यन्त सामान्य, 'सामान्यमेकत्वकरं' से मध्य सामान्य और 'तुल्यार्थता हि' आदि से एकदेश सामान्य को कहा गया है। सामान्य का इस प्रकार विभाजन भी अप्रयोजन और असंगत लक्षण होने से अधिक श्रद्धेय नहीं है।

कुछ विद्वान् सामान्य को दो प्रकार का मानते है;

१- उभयवृत्ति, २- एकवृत्ति

१ मांस, मांस का वर्धक उभयवृत्ति सामान्य से होता है, क्योंकि पोष्य और पोषक दोनों में मांसत्व सामान्य होता है।

२ घृत अग्नि वर्धक होता है। तथा धावनादि कर्म वातवर्धक होता है।

एकवृत्ति सामान्य के उदाहरणों में वर्धक और वर्धनीय द्रव्य समान नहीं हैं, परन्तु वे प्रभाव से वर्धक होते हैं और यह प्रभाव घृतत्व और धावनत्वादि के रूप में होता है, इस प्रकार का सामान्य एकवृत्ति सामान्य होता है। इस पक्ष में भी 'अनुभयवृत्तिसामान्य' 'विशेष' ही है, अन्यथा इस मत से तो समान और असमान दोनों ही वृद्धि का कारण होंगें, और जो सिद्धान्त है कि, सामान्य से वृद्धि और विशेष से ह्रास होता है, वह सिद्धान्त ही खण्डित हो जायेगा।

यहां आचार्य चक्रपाणि अपना मत स्थापित करते हुए कहते हैं, कि 'मेरे मत से सामान्य वृद्धि का कारण होता है, अतः 'सामान्यं वृद्धि कारणम्' ऐसा सिद्धान्त बन गया है, परन्तु वृद्धि सामान्य से ही होती है, ऐसा सिद्धान्त नहीं है, अतः असमान से भी वृद्धि होती है, यह वचन निर्दोष है।'

आचार्य चक्रपाणि पुनः कहते हैं, 'कुछ विद्वानों द्वारा यह भी संदेह उपस्थित किया गया है, कि इस तन्त्र में कर्म सामान्य को वृद्धि का कारण नहीं कहा गया है, क्योंकि धावन कर्म से वायु की किसी प्रकार की समानता नहीं होती है। अत एव, आचार्य ने द्रव्य सामान्य का वर्णन 'मांसमाप्यायते मांसेन' (च. शा. ६) इत्यादि से किया है, इसी प्रकार गुण सामान्य का वर्णन 'समानगुणाहारविकाराणामुपयोगः' (च. शा.६) आदि के द्वारा किया गया है, परन्तु कर्म सामान्य का वर्ण नहीं किया गया है। यह वचन कि, 'कर्मापि च यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यम्' इस वचन का भी ग्रहण यहां सामान्य के अन्तर्गत नहीं किया गया है।

उपर्युक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य चक्रपाणि कहते हैं, कि 'कर्म प्रायः प्रभाव से ही वृद्धि में कारण होते हैं, इसलिये उनका समावेश सामान्य में नहीं किया गया है, न कि कर्म सामान्य के अभाव से ऐसा किया गया है। अतः व्यायाम आदि से शरीर में क्रियावान् वात की वृद्धि होती है और निष्क्रियता से वात का क्षय होता है।'

'संयोग च विभागे च' यह कर्म का लक्षण है, और यह स्वप्नादि में प्रयुक्त नहीं होता फिर भी स्वप्नादि को शास्त्र व्यवहार में कर्म शब्द से व्यक्त किया गया है। चूंकि, स्वप्न (अधिक सोना), शरीर परिस्पन्दादि को कम करता है, जिससे कफ क्षय का निरोध होता है, अतः अपने कारणों से चीयमान कफ का क्षय न हो पाने के कारण, वर्धन होता है। अतः स्वप्न को कफ-वृद्धिकर कहा गया है, न कि स्वप्न साक्षात् कफ की वृद्धि करता है। इस प्रकार जहाँ चिन्तन संभव न हो, वहां प्रभाव कार्य करता है, यह समझना चाहिये।

चक्रपाणि पुनः एक प्रश्न उपस्थित करते हैं, कि जब मांस, सामान्य से मांस का वर्धन करता है और विशेष से वात का क्षपण करता है, तब मांस के द्वारा ये दोनों विरुद्धार्थ कार्य कैसे संभव हैं? क्योंकि जब देवदत्त कुंभ का निर्माण करता है, तब उसी समय वह काण्ड का भी निर्माण नहीं कर सकता। आचार्य चक्रपाणि इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि वास्तव में यह धर्म क्रियावान पदार्थों में होता है, अक्रियावान में नहीं, उदाहरणार्थ शब्द, एक साथ ही अनेक शब्दों को, एक समय में ही उत्पन्न करता है, इसी प्रकार अग्नि, प्रकाश उत्पन्न करने और जलाने का कार्य एक साथ ही करती है, इसलिये आचार्य ने कहा है, कि 'सम्यक् रूप से प्रयोग की गयी भेषज, एक साथ ही ऊन (न्यून) तथा अतिरिक्त (बढ़ी हुई) धातुओं में, अधिक को अपकर्षित कर तथा न्यून को आप्यायित कर साम्य उत्पन्न करती है।'

यह भी देखा जाता है, कि वृद्ध मनुष्य तथा बहुदोष युक्त आतुर के क्षीयमान धातुओं की समान गुण वाले आहार का उपयोग करने पर भी वृद्धि नहीं होती, इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में मधुरादि द्रव्यों के उपयोग से भी समान गुण युक्त कफ की वृद्धि नहीं होती। इसका कारण यह है, कि यहां प्रतिबंधक जरा (वृद्धावस्था), बहुदोषत्व, ग्रीष्मोष्णत्व आदि के उपस्थित होने के कारण सामान्य वर्धक नहीं होता। आचार्य चक्रपाणि उक्त तथ्य से सिद्धान्त की स्थापना करते हैं, कि 'विरोधक कारण के अनुपस्थित रहने पर सामान्य वृद्धि में कारण होता है।' अथवा, उपर्युक्त उदाहरणों में वृद्धादि में समान आहार के उपयोग से वृद्धि तो होती है, परन्तु अतिबलवान क्षयात्मक हेतु के विद्यमान रहने से अत्यधिक क्षय होने के कारण वह वृद्धि दिखाई नहीं देती।

आचार्य चक्रपाणि एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करते हैं, कि 'यहां द्रव्य रूप धातुओं का वर्धक द्रव्य-सामान्य ही होता है, गुण-सामान्य नहीं, क्योंकि गुणों का आश्रय द्रव्य ही होता है, अतः धातुवर्धक द्रव्य ही होता है। उदाहरणार्थ, चित्रक में रुक्षादि गुणों को देखकर, वह वायु को बढ़ाता है, यह अनुमान किया जाता है और वह चित्रक उपयोग करने पर, वात वर्धक होता है। गुण, गुणों से ही उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त होते हैं।[१]

आचार्य चक्रपाणि यह भी स्पष्ट करते हैं, कि सामान्य और विशेष वाद के अति विस्तृत होने से ग्रन्थ विस्तार के भय से यहां आयुर्वेदोपयोगी धर्ममात्र का वर्णन किया गया है। विस्तृत स्वरूप वैशेषिक दर्शन से जाना जा सकता है।

सामान्य विशेषवाद पर जल्पकल्पतरु टीका एवं आयुर्वेददीपिका टीका में समन्वयात्मक अध्ययन -

क्र.	विषय	जल्पकल्पतरु टीका	आयुर्वेददीपिका टीका
१	तत्त्व-ज्ञान से अपवर्ग प्राप्ति	तत्त्व-ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश होता है, मिथ्या ज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश, जन्म के नाश से दुःख का नाश, दुःख के नाश से विद्या का उदय होता है और ज्ञान का प्रकाश होता है, तब उस पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।[१०]	———
२	भाव/सत्ता	'असुभुवि भूसत्तायामित्यस्तेः भवतेर्वा रूपं भावो भवनं सत्ता।' 'सदिति यतः सा सत्ता द्रव्यगुणकर्मसु', अर्थात् जिससे द्रव्य, द्रव्य है, गुण, गुण है और कर्म, कर्म है, जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और कर्म सत् है, वह सत्ता है। यह सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म ये भिन्न है। चूंकि गुण में गुण और कर्म में कर्म नहीं रहता और सत्ता, गुण और कर्म में रहती है, अतः सत्ता का गुण और कर्म से भिन्नत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म, सामान्य-विशेष से युक्त होते हैं परन्तु सत्ता सामान्य-विशेष रहित होती है, अतः द्रव्य से भी सत्ता भिन्न है।	'भवति सत्तामनुभवन्तीति भावा द्रव्यगुणकर्माणीत्यर्थः न तु भवन्त्युत्पद्यन्त इति।' जिसकी सत्ता का अनुभव हो उसे भाव कहते हैं अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म।
३	समवाय में सत्तात्व की सिद्धि	आचार्य गंगाधर ने शेषवत् अनुमान के आधार पर समवाय में भी सत्तात्व की सिद्धि की है। चूंकि द्रव्य, गुण और कर्म में सत्तात्व की स्थापना के बाद समवाय शेष रहता है और उसमें सत्तात्व का प्रतिषेध भी नहीं किया गया है, अतः समवाय में सत्ता का अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार समवाय निश्चित ही सत् है और वह द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है, परन्तु इसकी सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म की सत्ता के समान स्वतन्त्र नही है, क्योंकि समवाय नित्य सम्बन्ध है और वह द्रव्य के साथ गुण और कर्म का होता है। 'समवाय' का अभाव होने पर द्रव्य, गुण और कर्म की सत्ता सम्भव नही हो सकती।	———
४	समवाय के भेद	समवाय २ प्रकार का होता है १ नित्य २ अनित्य द्रव्यों का गुण के साथ योग नित्य समवाय है। नित्यत्व भी ३ प्रकार का होता है:-[११] १ वह नित्य जो प्राकृत प्रलय पर्यन्त रहता है और प्राकृत प्रलय के उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है। २ मध्यम नित्य, जो निर्वाण रूप प्रलय पर्यन्त स्थित रहता है और निर्वाण रूपी प्रलय के समय नष्ट हो जाता है। ३ परम नित्य जो महानिर्वाण पर्यन्त स्थाई होने से नित्य, सत्य, शक्तिरूप ब्रह्म है। यह सर्ग और प्रलय दोनों अवस्थाओं में नित्य रहता है और इसे 'असद्भूत वस्तु' कहा जाता है। जो कार्य रूप द्रव्य, गुण और कर्म है उनमें 'अनित्य समवाय' रहता है।	———
५	४ पदार्थों का विवेचन	संसार में ४ ही पदार्थ हैं :- द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय, इनके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। आयुर्वेद में भावों की वृद्धि और ह्रास में कारण होने से, द्रव्यादि चार भावों में अन्तर्भावित होते हुए भी सामान्य और विशेष का पृथक् रूप से विवेचन किया गया है।	———

Contd....

६	सामान्य	सामान्य वृद्धि का कारण कैसे होता है? इस तथ्य का स्पष्टीकरण 'सामान्यमेकत्वकरम्' के द्वारा किया गया है।[१२] 'एकत्व' का अर्थ है, 'मेल होने से एकीभाव हो जाना।' सामान्य आपस में मिलने वाले भावों में एकीभाव उत्पन्न करता है, इसलिये यह वृद्धि का कारण होता है। सामान्य क्या है? इसका स्पष्टीकरण 'तुल्यार्थता हि सामान्यम्' से किया गया है। जहाँ कारणभूत और कार्यभूत वस्तु के अर्थ (गुणधर्म) समान होते हैं, उसे तुल्यार्थ कहते हैं। जो जिसके समान होता है, वह उसके साथ तुल्यार्थ होने से समान्य होता है।[१३]	'वृद्धि कारणम्' सामान्य का लक्षण है, केवल जातिगत सामान्य को ही सामान्य नहीं कहते, अन्यथा मांस के ग्रहण न करने पर भी मांसत्व सामान्य से, मांस न खाने वाले व्यक्ति के शरीर में भी मांस की वृद्धि हो जाती। यह सामान्य की परिभाषा मात्र न होकर आयुर्वेद में सामान्य का प्रयोग दर्शाने वाले लक्षण हैं। 'सामान्यमेकत्वकरम्' से सामान्य की परिभाषा कही गयी है। इसका अर्थ है, 'एकत्व बुद्धि को उत्पन्न करने वाला'। सामान्य वृद्धि का कारण होता है, परन्तु सामान्य ही वृद्धि का कारण होता है, ऐसा नहीं है, क्योंकि वृद्धि असमान से भी होती है, जैसे; घृत से अग्नि और मेधा की वृद्धि। विरोधक कारण के अनुपस्थित रहने पर सामान्य वृद्धि में कारण तथा विशेष ह्रास में कारण होता है। द्रव्य रूप धातुओं का वर्धक द्रव्य-सामान्य ही होता है गुण-सामान्य नहीं, क्योंकि गुणों का आश्रय द्रव्य ही होता है। तुल्यार्थता का अर्थ है एक समान रूप-गुण को प्रकट करना।
७	सामान्य के भेद	सामान्य ४ प्रकार का होता है- १ द्रव्यभूत सामान्य २ गुणभूत सामान्य ३ कर्मभूत सामान्य ४ समवायभूत सामान्य गंगाधर इन सभी को उदाहरणों के साथ स्पष्ट करते हैं।	आचार्य चक्रपाणि ने अन्य विद्वानों का मत देते हुए सामान्य को ३ प्रकार का बताया है - १ द्रव्यगोचर सामान्य २ गुणगोचर सामान्य ३ कर्मगोचर सामान्य कुछ अन्य विद्वान सामान्य को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित करते हैं- १ अत्यन्त सामान्य २ मध्य सामान्य ३ एकदेश सामान्य कुछ अन्य विद्वान सामान्य के दो प्रकार मानते हैं - १ उभयवृत्ति २ एक वृत्ति आचार्य चक्रपाणि सामान्य के इन भेदों को स्वीकार नहीं करते।
८	विशेष	विशेष ह्रास का हेतु कैसे होता है? इस तथ्य का स्पष्टीकरण 'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्' के द्वारा किया गया है। 'पृथक्त्व' का अर्थ है, 'असंयोग के कारण उत्पन्न अनेकता या विलक्षणता।' विशेष आपस में मिलने वाले भावों में असंयोग के कारण अनेकत्व उत्पन्न करता है, इसलिये यह ह्रास का कारण होता है।	विशेष वह है, जो व्यावृत्त बुद्धि को उत्पन्न करता है। आचार्य चक्रपाणि के मत से विशेष दो प्रकार का होता है- १ विरूद्ध विशेष २ अविरूद्ध विशेष। 'ह्रास हेतुर्विशेषश्च' से जिस विशेष का वर्णन है, वह विरूद्ध विशेष है। अविरूद्ध विशेष ह्रास और वृद्धि में कारण न होते हुए भी अन्ततः ह्रास का ही कारण होता है।
९	अविशेष की कल्पना	सामान्य और विशेष की ही तरह द्रव्य, गुण और कर्म में 'अविशेष' की भी कल्पना आचार्य गंगाधर ने की है और इस अविशेष को वे सामान्य ही मानते हुए कहते हैं, कि 'अविशेष' अतिरिक्त पदार्थ न होकर द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय में ही अन्तर्भूत है।	आचार्य चक्रपाणि ने 'सामान्य रूप विशेष' की कल्पना की है। उनके अनुसार आयुर्वेद में उसी विशेष का वर्णन किया गया है, जिसमें व्यावर्तक धर्म उपस्थित हो तथा जो एक स्थान पर सामान्य होने पर भी अन्यत्र विशेष हो जाता हो। इस विशेष को 'सामान्य रूप विशेष' की संज्ञा दी गयी है।
१०	अन्त्य विशेष	वैशेषिक शास्त्रोक्त अन्त्य विशेष की चिकित्सा में उपयोगिता न होने के कारण, आयुर्वेद में उसका वर्णन नहीं किया गया है।	चक्रपाणि भी आयुर्वेद में 'अन्त्य विशेष' को निष्प्रयोजन होने से उसका वर्णन नहीं किया गया है, ऐसा निर्देश करते है।

Contd....

११ प्रवृत्तिः उभयस्य तु।	जो भाव जिसके समान होता है उन दोनों की प्रवृत्ति से जो वृद्धि होती है, उसमें 'सामान्य' कारण होता है तथा जो भाव जिससे विशिष्ट होता है, उन दोनों की प्रवृत्ति से जो ह्रास होता है, उसमें 'विशेष' कारण होता है।	प्रवृत्ति का अर्थ है, 'प्रवर्तन' जो शरीर से सम्बन्ध होने पर ही होता है। अर्थात् शरीर से सम्बन्ध होने पर ही सामान्य से वृद्धि और विशेष से ह्रास होता है। 'उभयस्य' शब्द का प्रयोग सामान्य और विशेष दोनों की प्रवृत्ति के लिये किया गया है। केवल सामान्य के प्रयोग से धातुओं में वृद्धि मात्र होगी और केवल विशेष के प्रयोग से धातुओं में क्षय मात्र होगा। दोनों ही स्थितियों में 'धातुवैषम्य' उत्पन्न होगा। अतः सामान्य और विशेष के एक साथ उपयोग से धातु साम्य की प्राप्ति होती है।
१२ लौकिक और अलौकिक पदार्थ	वैशेषिक, आन्वीक्षिकी और आयुर्वेद शास्त्र में उपदेशित पदार्थ लौकिक पदार्थ है। लौकिक सामान्य और विशेष द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय में अन्तर्भूत हैं और 'वृद्धि-एकत्व' तथा 'ह्रास पृथक्त्व' के द्वारा चिकित्सा में उपयोगी होते हैं। अलौकिक सामान्य-विशेष चिकित्सा में अनुपयोगी होने के कारण आयुर्वेद में नहीं कहे गये हैं, परन्तु निःश्रेयस की प्राप्ति में साधक होने से इनका प्रतिषेध भी नहीं किया गया है।[१४]	———

समीक्षा एवं निष्कर्ष - सामान्य - विशेष वाद में जल्पकल्पतरु का वैशिष्ट्य :

जैसा कि पूर्व में निर्दिष्ट कर चुके हैं, कि सांसारिक दुःखों से निवृत्ति को ही दार्शनिक भाषा में मोक्ष कहते हैं। यही मोक्ष भारतीय दर्शन का मुख्य लक्ष्य रहा है। षड् पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य रूप तत्त्व ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आचार्य गंगाधर रॉय ने 'तत्त्वज्ञान' से अपवर्ग की प्राप्ति के क्रम का बहुत ही स्पष्ट विवरण दिया है जो कि अन्य किसी टीका में प्राप्त नहीं होता। उनके अनुसार, 'स्थूल रूप से जिस प्रकार पुरुष बन्धन को प्राप्त होता है, द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य रूप तत्त्वज्ञान से उस पुरुष के मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है, मिथ्या ज्ञान का नाश होने पर दोषों का नाश हो जाता है, दोष के नाश से जन्म का नाश होता है, जन्म के नाश से दुःख का नाश होता है, दुःख के नाश से विद्या का उदय होता है और यही ज्ञान का प्रकाश है, इसके प्राप्त होने पर पुरुष अपवर्ग (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।'

चरक संहिता में षड् पदार्थ के दर्शन हेतु 'ज्ञानचक्षु' का वर्णन है। 'ज्ञानचक्षु' का आचार्य गंगाधर ने बहुत ही सटीक अर्थ दिया है:- 'निश्चयात्मक ज्ञान रूपी चक्षु ही 'ज्ञानचक्षु' है। अर्थात् जिसमें संदेह नहीं है, ऐसे निर्मल ज्ञान रूपी चक्षुओं से ही पदार्थों का दर्शन अथवा ज्ञान सम्भव है।

आयुर्वेद में षड् पदार्थों के क्रम में सर्वप्रथम सामान्य और विशेष के वर्णन का जो कारण गंगाधर रॉय स्पष्ट करते हैं, वह अधिक स्पष्ट, युगानुरूप एवं चिकित्सकीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। उनके अनुसार, आयुर्वेद के दो प्रयोजन हैं:- धातु साम्य का रक्षण और विषम हुई धातुओं में साम्य स्थापित करना। उक्त दोनों प्रयोजनों की सिद्धि सामान्य और विशेष के द्वारा ही होती है, अतः आयुर्वेद में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण इनका वर्णन सर्वप्रथम किया गया है।

'सर्वदा सर्वभावानां' इस श्लोक की व्याख्या में 'भाव' शब्द का अर्थ 'सत्ता' बताते हुए आचार्य गंगाधर ने 'सत्ता' को विस्तृत रूप में स्पष्ट किया है और द्रव्य, गुण, कर्म तथा समवाय, इन चार पदार्थों में सत्ता की उपस्थिति को स्वीकार किया है, साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि सत्ता इनमें उपस्थित है, परन्तु ये पदार्थ ही सत्ता नहीं है। गंगाधर का यह विवेचन वैशेषिक दर्शन से साम्यता रखता है और उन्होने बहुत ही अच्छी प्रकार से इस तथ्य को स्पष्ट किया है, हाँ! भाषा की क्लिष्टता के कारण व्याख्यान को समझना निश्चित ही कठिन पड़ता है।

समवाय के 'नित्य और अनित्य' भेद तथा पुनः नित्यत्व को ३ प्रकार से विभेदित करना, यह गंगाधर रॉय का मौलिक वैशिष्ट्य है, जो अन्य टीकाओं में प्राप्त नहीं होता है।

आचार्य गंगाधर चार ही पदार्थ; द्रव्य, गुण, कर्म और समवाय को स्वीकार करते हैं और स्पष्ट करते हैं, कि सामान्य और विशेष इन्हीं चार पदार्थों में अन्तर्भावित हैं, परन्तु चिकित्सा में महत्त्वपूर्ण होने के कारण इनका पृथक् वर्णन भी किया गया है। इस तथ्य को स्पष्ट करने हेतु वे आन्वीक्षिकी शास्त्र में वादमार्ग ज्ञानार्थ पन्द्रह पदार्थों के पृथक् वर्णन का उदाहरण भी देते हैं।

'सामान्यमेकत्वकरम्' को आचार्य गंगाधर ने 'वृद्धिकारणम्' का स्पष्टीकरण तथा 'तुल्यार्थता हि सामान्यम्' को सामान्य की परिभाषा के रूप में स्वीकार किया है। 'एकत्व' और 'पृथक्त्व' का अर्थ गंगाधर जी ने बहुत ही स्पष्ट रूप में एवं उदाहरण देकर समझाया है, कि मेल होने से एकीभाव हो जाना 'एकत्व' और अनेकता या विलक्षणता ही 'पृथक्त्व' है। 'तुल्यार्थ' का अर्थ कारणभूत वस्तु और कार्य भूत वस्तु के गुणधर्म में तुल्यता से किया है। उन्होंने सामान्य के ४ प्रकार माने हैं, द्रव्यभूत, गुणभूत, कर्मभूत और समवायभूत सामान्य तथा उदाहरणों के साथ प्रत्येक को स्पष्ट भी किया है। उनके द्वारा 'प्रवृत्तिरुभयस्तु' की व्याख्या भी विशिष्ट है। उनके अनुसार, 'जो भाव जिसके समान होता है, उन दोनों की प्रवृत्ति से जो वृद्धि होती है, उसमें 'सामान्य' कारण होता है तथा जो भाव जिससे विशिष्ट होता है, उन दोनों की प्रवृत्ति से जो ह्रास होता है, उसमें 'विशेष' कारण होता है।'

आचार्य गंगाधर रॉय का दार्शनिक वैशिष्ट्य लौकिक और अलौकिक सामान्य-विशेष का वर्णन करने में दिखाई पड़ता है। उनके अनुसार 'वृद्धि-एकत्व' और 'ह्रास-पृथक्त्व' के रूप में जिस सामान्य-विशेष का वर्णन किया गया है, वह लौकिक सामान्य-विशेष है, और चिकित्सा में उपयोगी है। अलौकिक सामान्य-विशेष के साधर्म्य और वैधर्म्य ज्ञान से 'तत्त्वज्ञान' प्राप्त होता है और 'तत्त्वज्ञान' से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। सर्वअन्तर्यामी 'ब्रह्म' ही सामान्य है, और यही 'तत्त्व' है, परन्तु इस 'तत्त्वज्ञान' की प्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि 'विकृतांश' को छोड़कर 'प्राकृतांश' का ज्ञान प्राप्त करना ही 'तत्त्वज्ञान' है और वह ब्रह्मा में होता नहीं है। इसलिये आयुर्वेद में निष्प्रयोजन होने से अलौकिक सामान्य का वर्णन नहीं किया गया है।

सामान्य और विशेष वाद पर आचार्य गंगाधर के विवेचन तथा आचार्य चक्रपाणि से समन्वयात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है, कि आचार्य गंगाधर रॉय ने '**जलकल्पतरु**' में सामान्य-विशेष का वर्णन दार्शनिक आधार एवं आयुर्वेद में उपयुक्तता दोनों का समावेश करते हुए किया है, जबकि आचार्य चक्रपाणि स्पष्टतः कहते हैं, कि ग्रन्थ विस्तार के भय से यहां सामान्य-विशेष वाद के आयुर्वेदोपयुक्त धर्म मात्र कहे गये हैं।[१५] सम्भवतः चक्रपाणि के उक्त कथन के बाद आचार्य गंगाधर ने १९वीं शताब्दी में सामान्य-विशेष वाद के वैशेषिकोक्त दार्शनिक तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण समझा और अपनी टीका में उन्हे विस्तार से समाविष्ट किया।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१ अग्निवेश, चरक संहिता, पं. काशीनाथ पाण्डेय, डा. गोरखनाथ चतुर्वेदी कृत 'विद्योतिनी' हिन्दी व्याख्या, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, भाग १, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००५, सूत्र स्थान १/४४.

२ अग्निवेश, चरक संहिता, चक्रपाणि व्याख्या सहित, यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा सम्पादित, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००५, सूत्र स्थान १/४४ पर चक्रपाणि पृ.क्र. ९.

३ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. २), सूत्र स्थान १/४५ पर चक्रपाणि पृ.क्र. ११.

४ चरक संहिता, सूत्र स्थान १/४४ पर चक्रपाणि पृ.क्र. ९.

५ चरक संहिता, सूत्र स्थान १/४५ पर चक्रपाणि पृ.क्र. १०.

६ चरक संहिता, सूत्र स्थान १/४५ पर चक्रपाणि पृ.क्र. १०.

७ अग्निवेश, चरक संहिता, आयुर्वेददीपिका तथा जल्पकल्पतरु टीका संवलिता, कविराज नरेन्द्रनाथ सेन गुप्त तथा कविराज श्री बलाइचन्द्र सेन गुप्त द्वारा सम्पादित, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली, भाग १, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००२, सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ.क्र. ४०.

८ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ७), सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ.क्र. ४१.

९ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. २), सूत्र स्थान १/४५ पर चक्रपाणि पृ.क्र. ११.

१० चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. ७), सूत्र स्थान १/९ पर गंगाधर पृ.क्र. २४.

११ चरक संहिता, सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ.क्र. ३७.

१२ चरक संहिता, सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ.क्र. ४०.

१३ चरक संहिता, सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ.क्र. ४०.

१४ चरक संहिता, सूत्र स्थान १/१८ पर गंगाधर पृ.क्र. ४३.

१५ चरक संहिता, पूर्ववत् (सन्दर्भ क्र. २), सूत्र स्थान १/४५ पर चक्रपाणि पृ.क्र. ११.

The Critical Study of Philosophical Aspects of "Jalpakalpataru Teeka" with special reference to "Samanya-Vishesh Vad" (Part-II)

O. P. UPADHYAYA * RITU SONI **
National Institute of Ayurveda, Jaipur (Raj.)

ABSTRACT : Charak Samhita and Sushrut Samhita are main texts of Ayurveda. The acurate knowledge of these texts can not be gain without the knowledge of Sanskrit language. In this filed we are grateful to the commentators who write the commentaries on these Samhitas. Ayurveda is a treasure of philosophical aspect. In every Ayurvedic Samhita there is parallel description of philosophical aspects with medical discussion. Therefore the question arises in mind that 'is there any importance of these philosophical aspects in the field of treatment of diseases'? If there is some importance then what is that? And, how it can be proved according to the present era? The Charak Samhita is mainly a Medical text. The presence of Philosophy in this text, itself proves the importance of philosophy in the field of medicine, but there is need, to be explained, according to the present era. The widely accepted commentary on Charak Samhita in the present time is, 'Ayurveda Dipika' written by 'Chakrapani'. Its time goes back to app. 1075 AD. This is definitely a best, intellectual and deep commentary specially because of describing the Chikitsa Siddhantas (Basic Theories of treatment) in detail, but considering the fact that this commentary is some what lacking in the field of philosophical aspects, Gangadhar Roy, in 19th century, discussed philosophical aspects especially and deeply in his 'Jalp-Kalp-Taru' Commentary on Charak Samhita. He also discussed about the importance of these philosophical aspects in the field of medicine. In this paper the view of Acharya Chakrapani on Samanya Vishesh Vad is discussed in detail and compared with the views of Gangadhar Roy and the specialities of Gangadhar Roy are discussed in detail proving the fact - 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवन्द्यम्'

Key words : Charak Samhita, Acharya Chakrapani, Acharya Gangadhar, Philosophical Aspects, Samanya-Vishesh Vad.

♦ • ♦